राष्ट्रवाद पर बहस : लोकतांत्रिक संवाद का संकट

आशा कौशिक

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय परिसर में 9 फरवरी, 2016 को कथित तौर पर आपत्तिजनक देशविरोधी नारों एवं बाद के घटनाक्रम ने राष्ट्रवाद, देशप्रेम, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता और लोकतांत्रिक मूल्यों की पवित्रता जैसे अब तक विवादों से परे एवं सामान्य स्वीकृति प्राप्त अवधारणाओं, मानकों एवं प्रतिबद्धताओं को विवादों के घेरे में लाकर बहस का मुद्दा बना दिया है। संभवतः विगत कुछ समय से देश में पनप रही परस्पर अविश्वास, मनमुटाव, तनाव और कलह की राजनीतिक विसंगतियों की पृष्ठभूमि में इस मुद्दे ने राष्ट्रीय बहस का स्वरूप अख्तियार कर लिया है। यह गंभीर है। इसकी पड़ताल तात्कालिक मुद्दे एवं उनके दीर्घकालिक निहितार्थ–दोनों ही स्तरों पर करना समीचीन है।

तात्कालिक संदर्भ में ही देखें तो जे.एन.यू. परिसर, पटियाला कोर्ट, उसके तुरंत पूर्व एवं पश्चात् की अन्य संबद्ध घटनाओं को विश्वविद्यालय प्रशासन की प्रशासनिक विफलता,

उच्च शिक्षण संस्थानों की स्वायत्तता और सामर्थ्य का संकुचन कैम्पस राजनीति की बदलती प्रकृति सत्तारूढ़ दल की अनावश्यक भयग्रस्त प्रतिक्रिया एवं हस्तक्षेप तथा मीडिया की गैर-जिम्मेदाराना भूमिका के रूप में देखा जा सकता है। पांच राज्य विधानसभाओं के आसन्न चुनावों का संदर्भ भी उक्त आयामों में एक महत्वपूर्ण घटक है। जाहिर है, उपर्युक्त सभी आयाम प्रासंगिक हैं, और इनमें से प्रत्येक पर बहस की गुंजाइश है।

स्वाधीन भारत के लगभग सात दशक पूर्ण होने की पूर्व-बेला में भारतीय राष्ट्रवाद–उसकी प्रकृति, अर्थ-अनेकार्थकता पर पुनः बहस प्रथम दृष्ट्या अचरजपूर्ण एवं असंगत लगती है क्योंकि आम तौर पर स्वतंत्रता प्राप्ति और गणतंत्र स्थापना के बाद राष्ट्रीयता, राष्ट्रवाद से संबद्ध प्रत्ययात्मक एवं क्रियात्मक शंकाओं को तय एवं समाप्तप्रायः मान लिया गया था। राष्ट्रीय मानस में राष्ट्रवाद और राष्ट्रप्रेम को स्वतःस्फूर्त भावना, अनुभूति एवं आदर्श के रूप में स्थान प्राप्त हुआ है–स्वाधीनता संग्राम के दौरान एवं स्वाधीन भारत में भी। यदा-कदा मतभेदों से इतर, न इसे कभी मुद्दा माना गया, न बनाया गया। राष्ट्रवाद के मूल चरित्र पर आम सहमति संभवतः इसका कारण है।

फिर आज यह विवाद और बहस किस बात का संकेतक है? क्या यह एक राजनीतिक रणनीति है, जो शासकीय, प्रबंधकीय सामर्थ्य की सीमाओं से पार पाने के लिए प्रयुक्त की गई है? अथवा, बृहत्तर स्तर पर 'भारत का विचार' प्रत्यय की पुनर्व्याख्या का एक अवसर? दोनों पक्षों का सिलसिलेवार विश्लेषण सुसंगत है।

लोकतांत्रिक राजनीति की यह शक्ति और सीमा दोनों है कि विवादित मुद्दों को विविध रूपों में–सकारात्मक एवं नकारात्मक–निस्तारित किया जा सकता है, भुनाया भी जा सकता है। वर्तमान विवाद में विभाजनकारी सामाजिकी और राजनीति का पक्ष स्पष्ट है किंतु गहराती विभाजकता के मध्य बुनियादी मुद्दों की तीक्ष्णता उभरी है, जो भारत के 'स्वत्व' राष्ट्रवाद के मूल चरित्र और 'भारत विचार' की बारीकियों को स्पष्ट करने में गति प्रदान कर सकती है।

स्मरणीय है कि 2014 के आम चुनावों में नरेंद्र मोदी के नेतृत्व में भारतीय जनता पार्टी 'अच्छे दिन' के स्वप्निल वादों पर भारी बहुमत से विजयी हुई। राजनीतिक स्थायित्व ने शासकीय निर्णायकता के लिए समुचित आधार प्रदान किया। आर्थिकी के सुदृढ़ होने की उम्मीदें जागीं। परिवर्तन भी हुआ। 'अर्द्धराष्ट्रपतीय' प्रणाली की तर्ज पर लड़े गए चुनाव के विजेता मोदी द्वारा 'प्रधानमंत्रीय' शैली का देश में एक अर्से के बाद पुनः प्रवर्तन किया गया। इस शैली में एक ओर यह स्पष्ट हुआ है कि प्रभावी शासन कुशल प्रयोगधर्मिता एवं प्रयोजनमूलक केंद्रितता पर निर्भर करता है, दूसरी ओर शक्ति-सत्ता के केंद्रीकरण के खतरे भी इंगित हैं। राजनीतिक एवं शासकीय बाध्यताओं के मद्देनजर आवश्यक लचीलापन भी सचेष्ट योजना के रूप में रखा गया। 'सबका साथ सबका विकास' इस सचेष्ट योजना का मुख्य नारा बना। विकास प्रारूप के तहत अनेक आकर्षक योजनाओं का सूत्रपात किया गया है–मेक इन इंडिया, डिजिटल इंडिया, स्किल इंडिया से लेकर स्टैंड अप इंडिया, स्टार्ट अप इंडिया और जन-धन योजना से लेकर मुद्रा बैंक एवं उज्ज्वला योजना तक एक विस्तृत तथा प्रभावोत्पादक सूची है। किंतु यह भी सच है कि धरातल पर यह उक्त वादों, नारों और योजनाओं की परीक्षा का समय है। प्रत्येक परीक्षा की तरह विफलता की आशंका से ग्रस्त असमंजस और अस्पष्ट भय का साया भी है। इसीलिए 'अच्छे दिन' स्वप्न साकार न होने की स्थिति में अधीर जनमानस में पनपती व्यग्रता और 'विफल/गैर जिम्मेदाराना सत्ता प्रकल्प' की छवि से ध्यान हटाने के लिए विवादों की राजनीति का इस्तेमाल एक रणनीति के रूप में दृष्टव्य है। जन-अधीरता एवं असंतोष को दूसरी दिशा में मोड़ देने की सत्तारूढ़ अभिजनों की यह पुरानी एवं चिर-परिचित रणनीति है, जो इस सामाजिक-मनोविश्लेषण पर आधारित है कि सार्वजनिक जनमत एवं स्मृति संवेगों एवं आवेगों से सरलता

से प्रभावित एवं निर्धारित होती है।

इसी संदर्भ में आकर्षक योजनाओं की बातचीत के चलते-चलते बहस का मुद्दा विकास का एजेंडा नहीं अपितु 'भारतीयता' का मापन बन गया—हम कितने भारतीय हैं और कितने अ-भारतीय? हम में से कौन अधिक भारतीय है? हमारा राष्ट्रवाद और देशभक्ति किन तत्त्वों, शर्तों, प्रतीकों पर निर्भर है? क्या यह पहचान का संकट है या लोकतांत्रिक संवाद का? संवादहीनता लोकतंत्र का सबसे बड़ा संकट है, जो परस्पर असहिष्णुता से सिंचित होता है और अलगाव और अपवर्जन को पोषित करता है। अतः कहा जा सकता है कि शासकीय स्तर पर यह प्रति-प्रवर्धन तर्क एवं रणनीति है क्योंकि विकास एजेंडा के प्राथमिक मुद्दों—आर्थिक उद्विकास, रोजगार, शिक्षा, कृषि, स्वास्थ्य निवेश, न्याय आदि—से संबद्ध जमीनी चुनौतियों पर ध्यान केंद्रित करने के बजाय आवेगों के परिधीय उभार की राजनीति के केंद्र में लाना एवं ध्रुवीकरण के संवेगों को प्रश्रय देना, कितनी दूरगामी राजनीतिक दृष्टि है, यह निरंतर न थमने वाले विवाद से स्पष्ट है। विकास का एजेंडा पहचान की राजनीति से ऊपर उठकर ही निष्पादित किया जा सकता है और यह समावेशी शासन के आश्वासन पर प्रचंड बहुमत हासिल करने वाले सत्तारूढ़ दल/गठबंधन के नेतृत्व की प्राथमिकता होनी चाहिए। प्राथमिकताओं का पूर्वाग्रही विवादों की भेंट चढ़ना स्वस्थ राजनीति नहीं है।

यह दुःखद है कि बहस के मुद्दों के प्रवर्तन में ऐतिहासिक दृष्टि की कमी एवं बहस शैली में लोकतांत्रिक मर्यादाओं का अभाव स्पष्ट है, जबकि देश में ऐतिहासिक राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन की विरासत और लोकतांत्रिक चिंतन परंपराओं की समृद्ध धरोहर उपलब्ध है। यह और भी त्रासद है कि सरलीकृत, ध्रुवीकृत अवधारणाओं एवं पूर्वाग्रहों के अंतर्गत भारत, भारतीयता, राष्ट्र, राष्ट्रवाद के विचार एवं सत्त्व को तात्कालिक वरीयताओं के संकीर्ण नजरियों में सिमटकर देखा जा रहा है—दूसरे वैकल्पिक तथ्यों, दृष्टिकोणों, अवधारणाओं को नजरअंदाज और अपवर्जित करने का जोखिम उठाकर भी। ये सरलीकृत विलोम देशभक्ति—देशद्रोह जैसी भावप्रधान अभिवृत्तियों को तर्कसंगत, सुविचारित अवधारणाओं से वरीय रूप में पेश करते हैं और भावावेश में क्रिया-प्रतिक्रिया का क्रम अंतहीन शृंखला के रूप में मुद्दों को और अधिक धूमिल कर देता है। जे.एन.यू. की एक छात्रा की यह प्रतिक्रिया कि 'राजनीति हमारा भविष्य तय करती है। हम अपनी राजनीति का फैसला स्वयं करेंगे'—इसी शृंखला का एक प्रतीक है।

दिन-प्रतिदिन के परिवेश में अधिकांश भारतीयों के लिए भारतीयता बनाम अभारतीयता, राष्ट्रवाद बनाम राष्ट्रद्रोह बहस का मुद्दा है ही नहीं। अधिकांश भारतीय स्वयं को देशभक्त समझते हैं अपनी-अपनी परिभाषाओं के अनुसार। व्याख्या की यह विविधता महत्त्वपूर्ण है। विवाद का कारण यह विविधता नहीं, अपितु इसे परिसीमित तथा नियंत्रित करने वाली विचारधाराएं एवं उनका टकराव है। इसलिए यह प्रश्न उठता है कि क्या व्यक्ति के अधिकार और राष्ट्रवादी प्राथमिकताएं परस्पर विरोधी हैं? क्या नागरिक स्वतंत्रता सर्वोपरि है? उसकी क्या मर्यादाएं हैं? इन प्रश्नों के उत्तर के लिए राष्ट्रवाद और लोकतंत्र का सम्मिश्रण आवश्यक है। यह सम्मिश्रण समावेशी ही हो सकता है, अपवर्जनात्मक नहीं। भारतीय राष्ट्रवाद एवं लोकतंत्र की मूल आत्मा भी यही है।

इसलिए तात्कालिक घटनाक्रम से आगे तद्जन्य मुद्दों के दीर्घकालिक निहितार्थों को समझने की आवश्यकता है। वृहत्तर परिप्रेक्ष्य में कतिपय आयाम उक्त संदर्भ में विशेष महत्त्व रखते हैं—भारतीय संविधान के अंतर्गत लोकतांत्रिक संरचना, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, असहमति के अधिकार की महत्ता, देशद्रोह कानूनों की वर्तमान में प्रासंगिकता, राज्य के पंथनिरपेक्ष चरित्र की व्याख्या, व्यक्ति, राज्य और राष्ट्र के अंतर्संबंध के आयाम, राष्ट्रवाद, लोकतंत्र एवं नागरिक दायित्व के प्रश्न आदि। 'भारत विचार' प्रत्यय का इन सबके साथ

अंतर्संबंध भी महत्त्वपूर्ण है। अतएव इस अवसर को 'भारत विचार' की पुनर्व्याख्या के लिए समीचीन अवसर के रूप में भी देखा जा सकता है।

स्मरणीय है कि राष्ट्र की अवधारणा राज्य से कहीं अधिक विस्तृत और इतिहास में बद्धमूल है। यूरोप में प्रचलित 'एक राष्ट्र एक राज्य' परिकल्पना से भिन्न 'अनेक राष्ट्र एक राज्य' संकल्पना के आधार पर भारत में राष्ट्रीय राज्य का उद्‌विकास हुआ। अतः अनेकता, विविधता उसके चरित्र में ही गुंथित है और 'अनेकता में एकता' भारतीय राष्ट्रीय राज्य की अंतर्निहित शक्ति। यही 'भारत विचार' का भी मूल है। इसका सामाजिक-राजनीतिक निहितार्थ यह है कि धर्म, संस्कृति, जाति, रंग, क्षेत्रीयता, भाषा और अस्मिता की विभिन्नताओं के बावजूद कतिपय मूल मान्यताओं पर आम सहमति के आधार पर समतामूलक लोकतांत्रिक राष्ट्रीय राज्य की स्थापना संभव है। आम सहमति की सामान्यता और असहमति। विमत की विशिष्टता दोनों ही लोकतंत्र के मूल तत्त्व हैं, और जैसा कि राष्ट्रपिता गांधी ने अनेक बार कहा था, भारतीय संरचना में विशेष महत्त्व रखते हैं। व्यक्ति की पहचान और उसके अधिकार पवित्र हैं किंतु पहचान की राजनीति से इतर संवैधानिक मर्यादाओं द्वारा मर्यादित। ये मर्यादाएं ही अधिकारों को सुरक्षित भी रखती हैं। भारतीय लोकतंत्र की प्रकृति भी आम सहमति और विमत की द्वंद्वात्मक प्रक्रिया के माध्यम से बदलती, विकसित होती रही है। इस अनेकरूपीय द्वंद्वात्मकता को किसी भी प्रकार की आरोपित एकरूपता द्वारा स्थानापन्न करने के प्रयासों की सफलता संदिग्ध है।

आधुनिक 'भारत विचार' के समृद्ध रूपायन का सर्वाधिक प्रामाणिक स्रोत भारतीय स्वाधीनता संग्राम का संघर्ष एवं तद्‌जन्य चिंतन है, जिसमें बहुपक्षीय वैकल्पिक धाराओं का समागम है। भारत के दीर्घ स्वाधीनता संघर्ष ने भारत, भारतीयता और भरतीय राष्ट्रवाद की बहुलतावादी विरासत दी है। यह बरसों से पोषित साझा संस्कृति और सांस्कृतिक मूल्यों की साझेदारी की विरासत है। वैचारिक खुलेपन और प्रश्नांकन की आजादी की विरासत है। विमत के सम्मान और राष्ट्रीय गरिमा के लिए सहकर्म की विरासत है। लोकतांत्रिक राजनीतिक संस्कृति के लिए मुक्त संवाद और दायित्वपूर्ण आलोचना की विरासत है। सार्वजनिक जीवन में व्यक्तिगत मतभेदों से ऊपर उठकर परस्पर सम्मानपूर्ण अंतर्क्रिया की विरासत है। राष्ट्र के लिए सर्वजातीय, सर्ववर्गीय संघर्ष की मिसाल की विरासत है। स्त्रियों की मुखर सहभागिता की विरासत है। और वैकल्पिक विश्वदृष्टि की मौलिकता और विश्व स्तर पर शोषितों के साथ एकजुटता की भी विरासत है। लोकतांत्रिक संवाद, निरंतर, खुला तर्कसम्मत संवाद इसका आधार रहा है। यही 'भारत का विचार' है–समावेशी लोकतांत्रिक सोच और संरचना का विचार।

स्वाधीन भारत में राष्ट्रीय विरासत की इस लोकतांत्रिक सोच को भारतीय संविधान में समेकित करने का प्रयास किया गया है। यह संस्थाकरण का प्रयास है, जो आधारभूत है। किंतु क्रियात्मक स्तर पर मूल्यों के संवहन का दायित्व तो नागरिकों का है–वैयक्तिक एवं सार्वजनिक–दोनों स्तरों पर। यह राष्ट्र का सामूहिक दायित्व भी है।

भारतीय संविधान द्वारा सभी नागरिकों को समान अधिकार प्रदत्त है–अभिव्यक्ति, आंदोलन की स्वतंत्रता भी, इस प्रतिबंध के साथ कि घृणा एवं हिंसा फैलाना निषिद्ध है। यह प्रतिबंध आवश्यक है क्योंकि सामूहिक अस्तित्व-रक्षण के लिए प्रतिबंधहीन अधिकार जायज नहीं है। इस अर्थ में, राज्य से और राज्य पर, सवाल उठाने के अधिकार के बाद भी, व्यक्तिगत स्वतंत्रता और राष्ट्रीय सुरक्षा में कोई अंतर्विरोध नहीं है, जैसा कि विवाद उत्पन्न किया गया है।

अतः कहा जा सकता है कि गत फरवरी से राष्ट्रवाद/राष्ट्रद्रोह, भारतीयता (भारतमाता की जय, राष्ट्रध्वज की बाध्यता आदि के संदर्भ में) से संबद्ध विमर्श की दिशा और तर्क,

बौद्धिक विश्लेषण और इतिहास दृष्टि से विलग्न भावनात्मक धरातल पर अवस्थित है। समस्या यह नहीं है कि भावनात्मक पक्ष स्वयं में महत्त्वपूर्ण नहीं है। अवश्य महत्त्वपूर्ण है। अभिप्रायः यह भी नहीं है कि यह बौद्धिक धरातल से कमतर है। किंतु इसकी सीमा यह है कि इसमें वस्तुगत इतिहास दृष्टि के ओझल होने का खतरा है। और यही हुआ भी है। इस संदर्भ में इतिहासज्ञ सुनील खिलनानी का यह कथन उपयुक्त है कि 'अतीत की विविधता की अनदेखी कर हम भविष्य को भ्रष्ट करते हैं। इतिहास का अध्ययन किसी प्रकार की आसक्ति नहीं, आवश्यकता है।' वस्तुतः इतिहास में उपलब्ध दृष्टांतों से सबक सीखना वैधानिक विधि है। भारतीय स्वाधीनता संग्राम के सबक-विशेषतः राष्ट्रवाद/राष्ट्रीयता के चरित्र के संदर्भ में–भारतीय समाज एवं राजनीति में ही बद्धमूल हैं। एतद् उक्त अनुभवाधारित ज्ञान में वर्तमान के लिए बहुमूल्य दिशा-दृष्टि की प्रासंगिकता के पक्ष अवश्य देखे जा सकते हैं।

उक्त तर्कानुसार राष्ट्रवाद, राष्ट्रीयता, भारतीयता को राष्ट्रद्रोह, राजद्रोह, देशद्रोह के विलोम के रूप में ध्रुवीकृत श्रेणियों के रूप में प्रस्थापित करना विचार-दृष्टि शून्य अल्पकालिक दृष्टिकोण का द्योतक है, जो स्वयं प्रवर्तकों के हित में भी नहीं है। भारत और भारतीयता, राष्ट्र और राष्ट्रवादिता का कलेवर मूलतः समावेशी है। जैसा गांधी ने अनेक संदर्भों में कहा, एक भारतीय एक साथ एक अच्छा हिंदू या मुसलमान या ईसाई, अच्छा बंगाली या गुजराती एवं एक अच्छा भारतीय राष्ट्रीय, राष्ट्रवादी हो सकता है। इन विभिन्न पहचानों में कोई अंतर्विरोध नहीं है। भारतीयता के ये एकाधिक आयाम एक दूसरे के परिपूरक हैं। पहचान की राजनीति के माध्यम से सत्ताहित में जब इन विविध पहचानों में राजनीतिक अंतर्विरोध उत्पन्न किया जाता है तो अस्वस्थ राजनीतिक उपक्रम के रूप में राष्ट्रवादी भाव 'उप राष्ट्रवादी उग्रता में तब्दील होने लगता है, जो राष्ट्र की अखंडता एवं अस्मिता के लिए खतरा साबित हो सकता है। इससे पहले कि 'हम' बनाम 'वे' की ध्रुवीकृत अभिवृत्तियों से पोषित ऐसी 'उपराष्ट्रवादी' ताकतें उग्र राष्ट्रवाद का रूप धारण करें–इन्हें नियंत्रित किया जाना चाहिए। संघर्ष-समाधान की सर्वश्रेष्ठ विधा–लोकतांत्रिक संवाद–संभवतः सर्वाधिक उपयुक्त माध्यम है। इतिहास ने यह अनेक बार प्रमाणित किया है।

सारतः 'भारत विचार' और भारतीय राष्ट्रवाद लघुकारक आख्यान नहीं है, अपितु बहुपक्षीय एवं गतिशील धारा है जो निरंतर है और परिवर्तनशील भी, विशिष्ट है और समावेशी भी। इस स्वरूप को सहेजकर रखने की आवश्यकता है। 'ब्रेकिंग न्यूज' दृष्टिकोण की हड़बड़ाहट और सनसनी आधारित मीडिया प्रस्तुतिकरण से आगे गंभीर विमर्श के लिए अमर्त्यसेन के 'आर्ग्यूमेंटेटिव इंडियन' को केंद्र में रखना होगा, जो तथ्यों के आधार पर तर्क करता है और तथ्यों को तार्किकता की कसौटी पर स्वीकार करता है। यही भारतीय 'भारत विचार' का साकार मानवीकरण होगा–स्वतंत्र, लोकतांत्रिक, समावेशी।
